आखिर शिक्षा के मायने क्या हैं?

रोहित धनकर

हमारे विश्वास हमारे कर्मों पर प्रभाव डालते हैं। हमारे शिक्षा संबंधी विश्वास क्या हैं और हम शिक्षा को कैसे समझते हैं; इसका असर शिक्षा कर्म पर पड़ता है। शिक्षा दर्शन शृंखला का यह दूसरा लेख शिक्षा के अर्थ एवं अवधारणा पर चर्चा करता है। यह लेख सामाजिक क्रिया-कलापों में भागीदारी के लिए शिक्षा को जरूरी मानता है और शिक्षा को सीखने की एक प्रक्रिया। सीखने को स्वाभाविक रूप से विकसित होने वाली क्षमताओं से अलग अनुभवों से अर्जित नई सामर्थ्य के रूप में देखता है। नई सामर्थ्य की प्राप्ति में सीखने वाले की सक्रिय भागीदारी और नैतिक मूल्य की अहमियत को रेखांकित किया गया है।

पिछले लेख में हमने मोटे तौर पर शिक्षा-दर्शन की जरूरत और उसके मायनों पर बात की है और आखिर में शिक्षा की अवधारणा को समझने की जरूरत का उल्लेख किया है। शिक्षा पर उपलब्ध साहित्य को देखें तो 'शिक्षा' शब्द के अर्थ को कई तरह से समझने की कोशिश मिलती है। बिना उस सारे लेखन को पक्के तौर पर वर्गीकृत करने का दावा किए, मोटे तौर पर उसे हम पांच तरह के प्रयत्नों के रूप में देख सकते हैं। नीचे इन पांचों प्रयत्नों का बहुत ही संक्षेप में जिक्र भर है।

1. लेखक/वक्ता की अपनी शिक्षा की धारणा की अविवेचित (uncritical) अभिव्यक्तिः इस तरह के प्रयासों (approaches) में केवल अपनी धारणा की 'असली शिक्षा' के रूप में अभिव्यक्ति होती है। आम तौर पर ये परिभाषाएं 'शिक्षा के असली मायने...' या 'वास्तविक शिक्षा वह है जो...' जैसे जुमले से शुरू होती हैं। ऐसा नहीं है कि इन जुमलों से शुरू होकर कोई विवेचनात्मक दृष्टिकोण अभिव्यक्त नहीं हो सकता। पर आम तौर पर ऐसा होता नहीं है। जैसे 'असली शिक्षा वह है जो आदमी बनाए', 'वास्तविक शिक्षा नैतिक विकास का नाम है', आदि। ये परिभाषाएं लेखक के विचारों को समझने के लिए बहुत उपयोगी होती हैं। शिक्षा के किसी मान्य और जरूरी पक्ष को रेखांकित भी करती हैं। पर आम तौर पर ये एक तरफा होती हैं और विवेचना को आरम्भ में ही एक खास दिशा में धकेल देती हैं। हम यहां इस तरह के कथनों से शिक्षा को समझने की कोशिश नहीं कर सकते।

2. शिक्षा की धारणा को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समझने की कोशिशः इस तरह के प्रयत्नों में इतिहास के विभिन्न कालों में शिक्षा को कैसे समझा गया है इसका विवरण होता है। स्वभाविक रूप से यह तरीका हमें बहुत कुछ सिखा सकता है और बहुत उपयोगी है। इस लेख में हम इसका भी उपयोग नहीं कर रहे हैं। कारण यह कि हमें आज शिक्षा की क्या

लेखक परिचय

जाने-माने शिक्षाविद् एवं दिगन्तर के मानद सचिव।
आजकल अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बैंगलोर में शिक्षा दर्शन के प्रोफेसर हैं।

धारणा उपयुक्त है इस बात पर ध्यान केंद्रित करना है। हालांकि ऐतिहासिक दृष्टिकोण की मदद हम बार-बार लेंगे। पर बल दार्शनिक विवेचन पर होगा।

3. अवधारणात्मक विवेचन (भाषा में 'शिक्षा' शब्द की): यह तरीका 1960 के दशक में शिक्षा के विवेचनात्मक दर्शन (analytical philosophy of education) में पीट्र्स के काम के बाद बहुत प्रचलित हुआ और अब भी शिक्षा की धारणा को समझने का एक कारगर तरीका माना जाता है। पर इसकी अपनी समस्याएं भी हैं। कौन विवेचन कर रहा है और कौनसी भाषा में कर रहा है इसका विवेचना के नतीजों पर भी बहुत प्रभाव होता है। इसलिए अवधारणा का केवल भाषा आधारित विश्लेषण सदा सवालों के घेरे में रहता है। तो यहां हमें भाषा से बाहर निकलकर भी बहुत-सा विचार करना होगा, हालांकि अवधारणात्मक विश्लेषण के बिना आगे बढ़ना असंभव है इसलिए इसका उपयोग भी करेंगे।

4. शिक्षा के नाम पर प्रचलित प्रक्रिया का 'जैसा है वैसा' वर्णन करनाः इस दृष्टि से आज विद्यालयों और महाविद्यालयों में जो हो रहा है वही शिक्षा है। यदि हम अवलोकन और अध्ययन के आधार पर जो चल रहा है उसका सटीक वर्णन कर दें तो शिक्षा की धारणा साफ हो जाएगी। बहुत से, सब नहीं, समाजशास्त्री इस तरीके का उपयोग करते हैं। इसमें समस्या यह है कि 'शिक्षा में आज क्या हो रहा है' इस प्रश्न का तो बहुत अच्छा जवाब मिल सकता है; पर 'क्या होना चाहिए' का कोई जवाब नहीं मिल सकता। लेकिन शिक्षा दर्शन तो मूलतः 'क्या होना चाहिए' के प्रश्न के जवाब ढूंढ़ता है, अतः इस तरीके की कद्र करते हुए भी इससे संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता।

अतः इस लेख-माला में हम शिक्षा की धारणा को समझने के लिए एक मिला-जुला तरीका (approach) काम में लेंगे और उसमें मूल प्रश्न यह नहीं कि शिक्षा के इतिहास में क्या धारणा रही है, शिक्षा-चिंतकों ने क्या धारणा दी है या आज विद्यालयों/विश्वविद्यालयों में क्या हो रहा है। मूल प्रश्न हैः शिक्षा के क्या मायने होने चाहिएं? साफ है कि यह तरीका शिक्षा पर मूल्य-परक (normative) धारणा बनाने का है और जिसे अंग्रेजी में 'परसुएसिव' (persuasive) परिभाषा कहा जाता है, कुछ-कुछ वैसा है। इस तरह की अवधारणाओं में पाठक या श्रोता की सहमति प्राप्त करने के लिए प्रस्ताव दिए जाते हैं और उन प्रस्तावों के पक्ष में दलीलें दी जाती हैं। यहां हम ऐसा ही करेंगे और शिक्षा की यहां दी जाने वाली अवधारणा को एक प्रस्तावित अवधारणा के रूप में देखना चाहिए। शायद शिक्षा की सभी अवधारणाओं को प्रस्तावित अवधारणाओं के रूप में देखना चाहिए।

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में

आज हम बहुत जटिल सामाजिक व्यवस्था में रहते हैं। इस व्यवस्था में व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ व्यवहार के तरीके हैं, काम-काज करने के तरीके हैं, रहन-सहन के तरीके हैं, अच्छे जीवन की कल्पनाएं हैं, उत्पादन और वितरण की व्यवस्थाएं हैं, राज-काज और सामाजिक नियंत्रण के तरीके हैं, रीति-रिवाज हैं, आदि-आदि। यदि हम नवजात शिशु की इस सामाजिक व्यवस्था में आने की कल्पना करें तो वह इन सामाजिक क्रिया-कलापों में स्वतंत्र रूप से शामिल नहीं हो सकता। बात सिर्फ उसके शारीरिक रूप से अपरिपक्व होने की नहीं है। यदि किसी जादू या दुर्भाग्य से वह शारीरिक रूप से वयस्क जैसा परिपक्व हो जाए पर मानसिक रूप से इस सामाजिक व्यवस्था के तौर-तरीकों से अनजान रहे तो भी वह सामाजिक क्रिया-कलापों में हिस्सेदारी नहीं कर पाएगा। इस समाज में शामिल होने के लिए उसे बहुत कुछ सीखना पड़ेगा। जिसमें व्यवहार के तरीके, नैतिकता, ज्ञान, दक्षताएं, कल्पनाएं, इच्छाएं, आकांक्षाएं और आशंकाएं आदि बहुत कुछ हैं। आज के सभी मानवीय समाजों में यह सब सिखाने के व्यवस्थित और सायास प्रयत्न होते हैं।

शिक्षा की अवधारणा बनाने के लिए हम पहले स्तर पर उन प्रक्रियाओं और क्रिया-कलापों को चिह्नित कर सकते हैं

कुछ क्षमताएं इंसानों में उम्र बढ़ने के साथ अपने-आप बढ़ती हैं या आ जाती हैं, विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्षमताएं ऐसी क्षमताओं में प्रमुख होती हैं। जैसे, मांसपेशियों का बल और उन पर नियंत्रण। यह क्षमताएं शैक्षिक उपलब्धियों के लिए जरूरी आधार-भूमि बनाती हैं, इनके बिना शैक्षिक उपलब्धियां संभव नहीं होंगी। पर इनको सीखने की प्रक्रिया नहीं माना जाता। यह शारीरिक विकास का स्वतः होने वाला हिस्सा है।

जो मानव समाज में नव-आगन्तुक सदस्यों को सक्रिय सदस्यों के रूप में शामिल करने के लिए किए जाते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा सामाजिक जीवन में सक्रिय भूमिका निभाने की तैयारी है। इस धारणा में कम से कम दो मान्यताएं अभी से निहित हैंः 1. सक्रिय भूमिका निभाने की क्षमताओं को प्राप्त करना, इसे हम शिक्षा की अवधारणा का उपलब्धि-पक्ष कह सकते हैं। 2. इस उपलब्धि को पाने की प्रक्रिया, इसे हम शिक्षा का प्रक्रिया-पक्ष कह सकते हैं। तो इस दृष्टि से *शिक्षा किन्हीं उपलब्धियों को पाने और इसके लिए अपनाई गई प्रक्रियाओं की समग्रता का नाम है।* पर अभी बात बहुत कच्ची है। ये उपलब्धियां और प्रक्रियाएं दोनों ही बहुत तरह की हो सकती हैं; और उन सबको शिक्षा का हिस्सा मानने में बहुत सारी परेशानियां खड़ी होती हैं। अतः शिक्षा के उपलब्धि और प्रक्रिया पक्षों पर कुछ और विचार जरूरी है।

परिपक्वता और सीखने से विकसित होने वाली क्षमताएं

कुछ क्षमताएं इंसानों में उम्र बढ़ने के साथ अपने-आप बढ़ती हैं या आ जाती हैं, विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्षमताएं ऐसी क्षमताओं में प्रमुख होती हैं। जैसे, मांसपेशियों का बल और उन पर नियंत्रण। यह क्षमताएं शैक्षिक उपलब्धियों के लिए जरूरी आधार-भूमि बनाती हैं, इनके बिना शैक्षिक उपलब्धियां संभव नहीं होंगी। पर इनको सीखने की प्रक्रिया नहीं माना जाता। यह शारीरिक विकास का स्वतः होने वाला हिस्सा है। इसी तरह कुछ प्रवृत्तियां जन्म-जात भी होती हैं और कुछ खास उम्र में स्वभाविक रूप से विकसित होती हैं। जैसे जन्म से ही शारीरिक कष्ट हो तो आवाज करने, जिसे हम रोना कहते हैं, की प्रवृत्ति; कुछ मुंह में डालें तो चूसने की प्रवृत्ति। एक खास उम्र में यौन संबंधी प्रवृत्तियां। इन्हें भी सीखने का मसला नहीं माना जाता।

सीखने में उन चीजों को शामिल करते हैं जो बढ़ने या शारीरिक विकास या परिपक्वता में स्वभाविक और लाजिमी तौर पर विकसित नहीं होतीं। जैसे हाथ के काम और आंख का समन्वयन। यह समन्वयन शारीरिक विकास का स्वतः हो जाने वाला हिस्सा नहीं है, इसमें बार-बार अनुभव से आंख और हाथ को साधना होता है, यह उपलब्धि इस अनुभव का परिणाम है। एक और उदाहरण चलना सीखने का ले सकते हैं। बहुत लोगों को ऐसा लगता है कि खड़े होकर चलना सीखना तो मानव-शिशु के लिए बढ़ने की प्रक्रिया का स्वभाविक हिस्सा है और इसमें सीखने की कोई भूमिका नहीं है। चलना सीखना स्वभाविक तो है, पर यह केवल शारीरिक सामर्थ्य का मामला नहीं है, इसमें भी बार-बार अनुभव से अपने अंगों के संचालन को साधना होता है और दूसरों के अनुकरण का चलना सीखने में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

तो हम यहां मोटे तौर पर यह कह सकते हैं कि सीखने का अर्थ है अनुभव से सामर्थ्य में परिवर्तन या नई सामर्थ्य की प्राप्ति। जैसे हमारी शिक्षा की धारणा अभी बहुत कच्ची और अधूरी है, इसी तरह सीखने की यह धारणा भी अभी कच्ची और अधूरी है। इसे हम आगे और विकसित करेंगे; अभी इससे काम चल जाएगा कि सीखना माने 'अनुभव के आधार पर सामर्थ्य में परिवर्तन'। यह सामर्थ्य शारीरिक भी हो सकती है और मानसिक भी।

परिपक्वता और सीखने की प्रक्रियाओं में हमने भेद इसलिए किया है क्योंकि शिक्षा का विषय सीखने की प्रक्रियाएं होती हैं, परिपक्वता की नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि परिपक्वता की प्रक्रियाओं का शिक्षा पर प्रभाव नहीं पड़ता या शिक्षा उनकी कोई परवाह नहीं करती। बात सिर्फ इतनी कही जा रही है कि उन प्रक्रियाओं से होने वाली उपलब्धियां तो अपने-आप होती हैं। शिक्षा का ध्यान उन प्रक्रियाओं पर तब जाता है जब स्वभाविक विकास में किसी तरह की कमी रह जाए। *अतः शिक्षा की अवधारणा में (1) कुछ उपलब्धियां होती हैं, (2) उन उपलब्धियों को पाने की प्रक्रियाएं होती हैं, और (3) शैक्षिक प्रक्रियाएं सीखने-सिखाने की प्रक्रियाएं होती हैं।*

सायास और अनायास प्राप्त होने वाली क्षमताएं

ऊपर हमने माना है कि शिक्षा समाज में सक्रिय भागीदारी के लिए आवश्यक क्षमताओं और उनकी प्राप्ति की प्रक्रियाओं का नाम है। साथ ही यह भी चिह्नित करने की कोशिश की है कि कुछ क्षमताएं विकास और परिपक्वता का हिस्सा होती हैं और कुछ सीखने से ही आती हैं। शिक्षा मूलतः उन क्षमताओं और प्रक्रियाओं से संबंधित है जो मूलतः सीखने से ही आ सकती हैं।

पर यहां एक नया सवाल उठता हैः इंसानों में बहुत-सी क्षमताएं केवल समाज में रहने भर से स्वतः ही आ जाती हैं, क्या हम उन क्षमताओं को शिक्षा के उपलब्धि-पक्ष का हिस्सा मानें? क्या उन प्रक्रियाओं को जिनके माध्यम से इन क्षमताओं की प्राप्ति होती है शैक्षिक-प्रक्रियाओं का हिस्सा मानें? उदाहरण के लिए, अपने समुदाय में रहने मात्र से बच्चे सामाजिक व्यवहार के नियम-कायदे सीख जाते हैं, अपने समुदाय की भाषा 3-4 वर्ष की उम्र तक सीख जाते हैं, और भी बहुत-सी सामाजिक-सांस्कृतिक चीजें सीख जाते हैं। सरल खेतिहर समाजों में किसी के बिना सिखाने के विशेष प्रयत्न किए काम-काज भी सीख जाते हैं। निश्चय ही ये क्षमताएं समाज में सक्रिय भागीदारी के लिए जरूरी हैं। अतः लगता है कि यदि हम शिक्षा को सामाजिक भागीदारी के लिए आवश्यक क्षमताओं और उनको प्राप्त करने के लिए होने वाली प्रक्रियाओं की समग्रता मानते हैं तो इन क्षमताओं और प्रक्रियाओं दोनों को शिक्षा का हिस्सा मानना चाहिए।

बहुत से शिक्षा चिन्तक और दार्शनिक ऐसा मानते भी हैं। पर इस मान्यता की अपनी समस्याएं भी हैं। हम कोई भी अवधारणा इसलिए बनाते हैं कि उसे अपने विवेचन, विचार और कर्म को निर्देशित करने में काम ले सकें। इसके लिए जरूरी है कि उस अवधारणा का कोई दायरा खीचें। हमें यहां ऐसा दायरा चाहिए जो उन क्षमताओं और प्रक्रियाओं को पहचान सके जिन्हें हम शिक्षा का हिस्सा मानते हैं। यदि हम उन सारी प्रक्रियाओं को भी शिक्षा का हिस्सा मान लेंगे जो समाज के सहज जीवन में चलती ही रहती हैं और जिनमें उस समाज में रहने वाला हर व्यक्ति लाजिमी तौर पर हिस्सा लेता ही है तो यह दायरा मिट जाएगा। हम शिक्षा से वंचित और शिक्षा का अवसर पाने वाले व्यक्तियों में भेद नहीं कर पाएंगे। वास्तव में हम शिक्षित और अशिक्षित का भेद भी नहीं कर पाएंगे। और यह भेद किए बिना शिक्षा पर कोई बात करना, उसका कोई सिद्धांत बनाना, उसकी कोई योजना बनाना सब असंभव हो जाएगा। अतः मुझे लगता है कि शिक्षा की इस अति-विस्तारित अवधारणा की हमें काफी बड़ी कीमत चुकानी होगी।

इसका एक उपयुक्त हल यह हो सकता है कि हम शिक्षा में उन्हीं क्षमताओं को शामिल करें जिनका विकास करने की हम जानबूझ कर कोशिश करते हैं, जिनके विकास के लिए हम सायास प्रयत्न करते हैं। इससे वे ही प्रक्रियाएं शिक्षा का हिस्सा मानी जाएंगी जो हम सायास चलाते हैं। कुछ लोगों को लग सकता है कि यह तो शिक्षा की बहुत संकुचित अवधारणा हो जाएगी। मेरा मानना है कि यह निराधार आशंका है। क्योंकि इसमें हम किन्हीं क्षमताओं को बाहर रखने की बात नहीं कर रहे, जहां भी हमें लगे कि समाज में सक्रिय भागीदारी के लिए कोई क्षमता जरूरी है पर समाज में रहने भर से विकसित नहीं हो रही है तो हम उसको अपने सायास प्रयत्नों में शामिल कर सकते हैं। साथ ही हम अनायास होने वाली प्रक्रियाओं और उनसे पाई जाने वाली क्षमताओं के मूल्य को भी अस्वीकार नहीं कर रहे। हमारी सायास प्रक्रियाएं इन्हीं क्षमताओं पर निर्भर करेंगी।

यदि हम उन सारी प्रक्रियाओं को भी शिक्षा का हिस्सा मान लेंगे जो समाज के सहज जीवन में चलती ही रहती हैं और जिनमें उस समाज में रहने वाला हर व्यक्ति लाजिमी तौर पर हिस्सा लेता ही है तो यह दायरा मिट जाएगा। हम शिक्षा से वंचित और शिक्षा का अवसर पाने वाले व्यक्तियों में भेद नहीं कर पाएंगे। वास्तव में हम शिक्षित और अशिक्षित का भेद भी नहीं कर पाएंगे। और यह भेद किए बिना शिक्षा पर कोई बात करना, उसका कोई सिद्धांत बनाना, उसकी कोई योजना बनाना सब असंभव हो जाएगा।

अगर यह विवेचन ठीक-ठाक है तो हम कह सकते हैं कि: *शिक्षा समाज में सक्रिय भागीदारी के लिए सायास विकसित की जाने वाली क्षमताओं और उन क्षमताओं की प्राप्ति के लिए चलाई जाने वाली सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं की समग्रता का नाम है।*

शैक्षिक उपलब्धियां और मूल्य

शैक्षिक उपलब्धि के रूप में हम अधिकतर क्षमताओं की बात करते रहे हैं। विवेचन के इस स्तर पर क्षमताओं में समझ, ज्ञान, कौशल, नैतिक समझ; आदि वे सभी चीजें शामिल हैं जो हम सक्रिय सामाजिक जीवन के लिए जरूरी मानते हैं। ऊपर हमने माना है कि शिक्षा एक सायास उपक्रम (endeavor) है। जो कुछ भी सायास होता है उसका प्रयास करने वाले के मन में कोई न कोई उद्देश्य भी होता ही है; चाहे वह उद्देश्य सचेत स्तर पर और सुविचारित हो या अस्पष्ट और अविवेचित हो। साथ ही शिक्षा लम्बी कालावधि वाली प्रक्रिया भी है। ऐसा नहीं है कि शिक्षा आज सुबह शुरू हुई और दोपहर बाद तक खत्म हो जाए। इसे वर्षों तक चलने वाली प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। क्योंकि शिक्षा की प्रक्रिया सीखने-सिखाने की प्रक्रिया होती है तो इसमें कम से कम 'सीखने वाला' या शिक्षार्थी तो होता ही है। और क्योंकि सारी शिक्षा स्वयं-शिक्षा नहीं होती इसलिए सामान्य तौर पर शिक्षक भी होता है। किसी भी व्यापक तौर पर लम्बी चलने वाली प्रक्रिया में सामाजिक सहमति भी होनी चाहिए। यदि इन तीनों (उद्देश्य-परक, दीर्घ-कालिक और शिक्षार्थी-शिक्षक-समाज की सहमति) चीजों को मिलाकर देखें इस नतीजे पर पहुंचना स्वभाविक है कि शैक्षिक उपलब्धियों को महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान (worthwhile) माना जाता है, नहीं तो उन्हें चलाने का प्रयास किया ही नहीं जाता।

कई बार यह सवाल उठाया जाता है कि लोग तो यह कहते पाए जाते हैं कि ''वर्तमान शिक्षा में कोई काम की चीज नहीं सिखाई जाती'' या ''इससे शिक्षार्थी और समाज का कोई भला नहीं होता''; आदि। इस तरह की टिप्पणियों से तो नहीं लगता की शैक्षिक-क्षमताओं को सदा ही मूल्यवान माना जाता है।

शैक्षिक-प्रक्रियाओं और क्षमताओं के मूल्यवान होने पर इस ऐतराज को देखने का एक नजरिया यह हो सकता है कि वास्तव में यह वर्तमान शिक्षा की आलोचना होती है, शिक्षा की अवधारणा में उपलब्धियों के मूल्यवान होने का नकार नहीं। यदि आलोचक शिक्षा की अवधारणा में मूल्य को स्वीकार नहीं करता तो उसके लिए वर्तमान शिक्षा में कुछ काम या भला करने वाले तत्व की अपेक्षा करना ही असंभव होता। शिक्षा की वस्तुस्थिति की आलोचना उससे रखी जाने वाली अपेक्षाओं के प्रकाश में ही हो सकती है। अतः आलोचक भी शैक्षिक उपलब्धियों को मूल्यवान उपलब्धियों के रूप में तो देखता है, पर वर्तमान शिक्षा में उनका अभाव पाया जाता है। यह शिक्षा की वर्णनात्मक अवधारणा और वांछनीय अवधारणा के भेद को दर्शाता है।

कुछ शिक्षा-दार्शनिक (उदाहरण के लिए पीट्र्स) शैक्षिक उपलब्धियों को स्व-मूल्यशील या आतंरिक रूप से मूल्यवान (intrinsically worthwhile) मानते हैं। अर्थात् वे ही उपलब्धियां शैक्षिक महत्त्व की हैं जो अपने-आपमें ही मूल्यवान हों। जिनका मूल्य किसी दूसरी उपलब्धि के लिए साधन के रूप में नहीं हो, बल्कि जिनको स्वयं में ही मूल्यवान माना जाए। स्व-मूल्यशील (intrinsically worthwhile) और पर-मूल्यशील (extrinsically worthwhile) के फर्क को समझने के लिए एक उदाहरण लेते हैं। पैसे का मूल्य आज के जमाने में (शायद सभी जमानों में) सभी मानते हैं। पर पैसे को कुछ और चीजों की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में देखा जाता है, न कि अपने-आपमें मूल्यवान वस्तु के रूप में। जबकि खुशी या सुख को अपने-आपमें ही प्राप्त करने काबिल या मूल्यवान माना जाता है। खुशी किसी और चीज को पाने का साधन नहीं है, बस स्वयं में ही साध्य है। पीट्र्स (और कुछ अन्य दार्शनिकों) का मानना है कि शैक्षिक उपलब्धियां खुशी की तरह स्वयं-साध्य हैं। वे ज्ञान और नैतिकता के विकास को मानव होने की मानस-स्थिति के रूप में देखते हैं और मानव होना अपने-आपमें ही साध्य है। इस बात का हम शिक्षा के उद्देश्यों को समझने में

और विवेचन करेंगे, यहां इतना ही काफी है कि सभी शैक्षिक उपलब्धियां स्वयं-साध्य ही हों ऐसा जरूरी नहीं लगता। दुनियाभर के सभी शिक्षाक्रमों में ऐसी चीजों की भरमार होती है जो कुछ और पाने के लिए आवश्यक मानी जाती हैं।

शैक्षिक क्षमताओं की व्यापकता और उपलब्धि का स्तर

हमने शिक्षा को सामाजिक जीवन में सक्रिय भागीदारी की तैयारी माना है। पर समाज में जो क्रिया-कलाप चल रहे होते हैं वे बहुत विविध प्रकार के होते हैं। भागीदारी किन क्रिया-कलापों में और किस भूमिका में करनी पड़ सकती है इसका कोई साफ और सटीक पूर्व-अनुमान लगाना संभव नहीं है। साथ ही समाज में किसी एकाध भूमिका भर की तैयारी को ही केंद्र में रखना शिक्षार्थी को व्यापक सामाजिक भागीदारी से वंचित भी कर सकती है। अतः सामान्य शिक्षा में जिन क्षमताओं की बात की जाती है वे एकाध काम और संकुचित विषयों के ज्ञान के दायरे में नहीं रखी जा सकतीं। तो शिक्षा किसी खास काम या भूमिका का प्रशिक्षण नहीं हो सकती। उसमें समाज और दुनिया की व्यापक समझ को शामिल करना होता है। यह ज्ञान, दक्षताओं और मूल्यों के बहुत विस्तृत भण्डार की मांग करती है।

हमने शिक्षा को सामाजिक जीवन में सक्रिय भागीदारी की तैयारी माना है। पर समाज में जो क्रिया-कलाप चल रहे होते हैं वे बहुत विविध प्रकार के होते हैं। भागीदारी किन क्रिया-कलापों में और किस भूमिका में करनी पड़ सकती है इसका कोई साफ और सटीक पूर्व-अनुमान लगाना संभव नहीं है। साथ ही समाज में किसी एकाध भूमिका भर की तैयारी को ही केंद्र में रखना शिक्षार्थी को व्यापक सामाजिक भागीदारी से वंचित भी कर सकती है।

इसी तरह शैक्षिक क्षमताओं में पारंगतता के स्तर का भी महत्त्व होता है। समाज में हम एक तो सामान्य भागीदारी करते हैं और दूसरे किसी खास दायरे में अपना विशिष्ट योगदान भी करते हैं। तो शिक्षा को इन दोनों तरह की भूमिकाओं की तैयारी करनी होती है। यह सवाल शिक्षा के दायरे में व्यापकता और गहराई दोनों की मांग करता है, और शिक्षा की संकुचित और विशिष्ट प्रशिक्षण से अलग पहचानने में मदद करता है।

शैक्षिक-प्रक्रिया में नैतिकता का सवाल

ऊपर हमने माना है कि शैक्षिक-उपलब्धियों को पाने के लिए सीखने-सिखाने की एक लम्बी प्रक्रिया चलानी होती है। सभी समाजों में इन शैक्षिक प्रक्रियाओं का संचालन एक नैतिक दायरे में किया जाता है। अर्थात् सीखने-सिखाने के जो तरीके हम काम में लेते हैं उन्हें नैतिक स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए। हम शिक्षा में ऐसे तरीके काम में नहीं ले सकते जिनसे कोई नैतिक ऐतराज हो। उदाहरण के लिए, वर्तमान भारतीय शिक्षा में शारीरिक दंड को स्वीकार्य नहीं माना जाता।

पीटर्स की अवधारणा में शिक्षार्थी की शैक्षिक प्रक्रियाओं में स्वैच्छिक और सचेत भागीदारी को भी आवश्यक शर्त माना जाता है। पर वहां स्वैच्छिक से आशय प्रक्रियाओं में शामिल होने की बिना बल प्रयोग के सहमति भर है, क्या सीखना है इसकी पूर्व सहमति नहीं। सचेत भागीदारी तो सीखने के प्रयत्नों में आवश्यक है ही।

शिक्षा की अवधारणा

अभी तक की विवेचना को समेकित करना चाहें तो कह सकते हैं किः

1. शिक्षा समाज में सक्रिय भागीदारी के लिए सायास विकसित की जाने वाली क्षमताओं और उन क्षमताओं की प्राप्ति के लिए चलाई जाने वाली सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं की समग्रता का नाम है। इस तरह शिक्षा का एक उपलब्धि-पक्ष और एक प्रक्रिया-पक्ष होता है।
2. शैक्षिक क्षमताएं समाज में मूल्यवान मानी जाती हैं पर उनका स्व-मूल्यशील होना आवश्यक नहीं है।

3. शिक्षा क्षमताओं (ज्ञान, दक्षताएं, मूल्य) के बहुत व्यापक और समुचित गहराई के स्तर तक विकास की कोशिश करती हैं।
4. शैक्षिक प्रक्रियाओं को कुछ नैतिक दायरों में ही चलाया जा सकता है।
5. शैक्षिक प्रक्रियाओं में शिक्षार्थी की स्वैच्छिक और सचेत भागीदारी जरूरी होती है।

क्या शिक्षा की अवधारणा कुछ में देश-कालातीत और संदर्भगत है?

क्या शिक्षा की उपरोक्त अवधारणा में कुछ देश-कालातीत है? या यह पूरी तरह संदर्भ-बद्ध है? मुझे लगता है कि इस अवधारणा में बहुत कुछ देश-कालातीत है। जहां भी जीवन के सामान्य क्रिया-कलापों में शैक्षिक प्रक्रियाओं को अलग पहचान देने की जरूरत महसूस की जाती है वहां उसके उद्देश्यपरक होने, सिखाने की प्रक्रिया होने, उसके उपलब्धि और प्रक्रिया पक्ष होने, शैक्षिक क्षमताओं को मूल्यवान मानने की बातें सार्वभौम हैं। उपरोक्त अवधारणा में केवल दो चीजें हैं जिनके सार्वभौम होने पर सवाल उठाए जा सकते हैं: 1. क्षमताओं की व्यापकता और गहराई का सवाल, और 2. शिक्षार्थी की स्वैच्छिक भागीदारी का सवाल। इन दोनों पर हम आगे काफी चर्चा करेंगे।

पर यह भी ध्यान रखने की जरूरत है कि इस अवधारणा में जो कुछ भी सार्वभौम है वह बहुत अमूर्त है, उसे शिक्षा के व्यवहारिक स्वरूप में परिवर्तित करने के लिए बहुत सामग्री शिक्षार्थी के संदर्भ में से ही मिल सकती है। यह अवधारणा का ढांचा भर है, उसका व्यवहारिक स्वरूप नहीं। शिक्षा का जो भी व्यवहारिक स्वरूप इस ढांचे के तहत बनाया जाएगा उसमें सार्वभौम और संदर्भगत दोनों तरह की सामग्री होगी।

यह कोई नई बात नहीं है। जॉन ड्यूई जब शिक्षा को इसके व्यापकतम अर्थों में ''मानवों और प्रकृति के प्रति मूलभूत बौद्धिक और भावनात्मक रुझान विकसित करने की प्रक्रिया'' कहते हैं तो शिक्षा के सार्वभौम पक्ष का उल्लेख कर रहे हैं। वे बौद्धिक और भावानात्मक रुझान वास्तव में क्या हों और कैसे विकसित किए जाएं यह संदर्भ पर निर्भर करता है, पर शिक्षा को इन रुझानों के विकास का काम तो सभी कालों में और सभी स्थानों पर करना होगा।

शिक्षा की संदर्भगत सामग्री को बिना उसके उद्देश्यों की बात किए नहीं पहचाना जा सकता। और शिक्षा के उद्देश्यों की बात बिना वांछनीय समाज का खाका बनाए नहीं हो सकती। पर समाज की बात भी बिना मानव की प्रकृति की बात किए संभव नहीं लगती। अतः अगले लेख में हम इंसान की बात करेंगे। हम इंसान को जिस नजर से देखेंगे हमारी शिक्षा का स्वरूप भी उसी के अनुरूप होगा। ◆